

विषय	हिन्दी
प्रश्नपत्र सं. एवं शीर्षक	P16 : समकालीन साहित्य चिन्तन
इकाई सं. एवं शीर्षक	M9 : संरचनावाद
इकाई टैग	HND_P16_M9
प्रधान निरीक्षक	प्रो. रामबक्ष जाट
प्रश्नपत्र-संयोजक	प्रो. नामवर सिंह
इकाई-लेखक	प्रो. रामबक्ष जाट
इकाई समीक्षक	प्रो. नित्यानन्द तिवारी
भाषा सम्पादक	प्रो. देवशंकर नवीन

पाठ का प्रारूप

1. पाठ का उद्देश्य
2. प्रस्तावना
3. संरचनावाद की अवधारणा
 - 3.1. भाषिक व्यवस्था (लॉग)
 - 3.2. भाषिक व्यवहार (पैरोल)
 - 3.3. परस्पर विलोम (बाइनरी अपोजिट)
4. साहित्यिक संरचना
5. इकाई और नियम
6. निष्कर्ष

पाठ का उद्देश्य

इस पाठ के अध्ययन के उपरान्त आप

- संरचनावाद की मूल अवधारणा से परिचित हो सकेंगे।
- संरचनावाद की उत्पत्ति के विषय में जान पाएँगे।
- साहित्यशास्त्र के रूप में संरचनावाद के उपयोग की पद्धति जान पाएँगे।
- संरचनावाद और पारम्परिक काव्यशास्त्र से तुलना कर सकेंगे।

1. प्रस्तावना

समकालीन हिन्दी साहित्य चिन्तन पर यूरोप की विभिन्न आधुनिक चिन्तनधाराओं का प्रभाव रहा है, संरचनावाद इन्हीं में से एक है। संरचनावाद हिन्दी साहित्य के चिन्तन में अभी प्रवेश पाने के क्रम में है, अभी पूरी तरह विकसित नहीं हुआ है। ऐसे में हमें जान लेने की आवश्यकता और अधिक हो जाती है कि संरचनावाद है क्या और साहित्य चिन्तन में यह किस तरह सहायक है और होगा? इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर 'समकालीन साहित्य चिन्तन' में संरचनावाद को शामिल किया गया है।

2. संरचनावाद की अवधारणा

संरचनावाद समकालीन साहित्य चिन्तन का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है। यह शुद्ध साहित्यिक सिद्धान्त नहीं है। इस सिद्धान्त का सम्बन्ध भाषा-विज्ञान, नृतत्वशास्त्र, समाजशास्त्र, गणित और मनोविज्ञान से भी है। बाद के दिनों में साहित्य सिद्धान्त के रूप में भी इसका प्रयोग होने लगा। सबसे पहले इसका प्रयोग भाषा-विज्ञान में हुआ और भाषा-विज्ञान के रास्ते से यह साहित्य में आया ज्ञातव्य है कि यह भारतीय साहित्य चिन्तन का हिस्सा नहीं है, बल्कि भारत में यह यूरोपीय और विशेष रूप से फ्रेंच साहित्य से आया। मूलतः यह मार्क्सवाद विरोधी दर्शन है। जाहिर है कि मार्क्सवाद सिर्फ साहित्य सिद्धान्त नहीं है— वह अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, समाजशास्त्र, दर्शन आदि सब है, इसलिए उसके सामने खड़े होने वाले शास्त्र को भी अपने में पूर्ण होना होता है, जो कि संरचनावाद है। बाद में कुछ मार्क्सवादी, संरचनावादी भी हुए या मार्क्स को भी संरचनावादी घोषित किया गया। यह सब दार्शनिक संघर्षों में होता रहता है। पहले हम किसी का विरोध करते हैं, फिर उस विरोधी को भी अपने रंग में रंग लेते हैं और अपने और विरोधी के विचारों की भिन्नता को धूमिल कर देते हैं। कबीर के साथ ऐसा ही हुआ। कबीर पहले निम्न जाति के माने गए फिर कुँवारी ब्राह्मणी की अवैध सन्तान माने गए। फिर भक्ति साहित्य की मुख्य परम्परा में शामिल कर लिए गए।

संरचनावाद का उद्भव बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुआ। संरचनावाद के मूलतः दो आदि आचार्य हैं। बाद में इसमें अनेक लोग जुड़ते चले गए। इनमें आपस में खूब वैचारिक बहस हुई। उस बहस से बचते हुए हम उन दो लोगों की प्रमुख मान्यताओं तक अपने आपको सीमित रखेंगे। इनमें से एक है सस्यूर और दूसरे हैं क्लाड लेवी स्त्रास। संरचनावाद के सिद्धान्त का महत्व इन दोनों द्वारा निर्मित हुआ है। सबसे पहले हम सस्यूर के चिन्तन को संक्षेप में समझने की कोशिश करते हैं।

सस्यूर भाषा विज्ञान के अध्यापक थे। उनके जीवन काल में उनकी कोई पुस्तक नहीं छपी। सन् 1916 में कक्षा में पढ़ाए गए नोट्स की किताब छपी और एकाएक वे एक नए चिन्तन के अधिष्ठाता बने या मान लिए गए। उन्हीं से

संरचनावादी भाषा विज्ञान का आरम्भ माना जाता है। उन्होंने भाषा के दो भेद किए- **लॉग** (भाषिक व्यवस्था) और **पैरोल** (वाक या भाषिक व्यवहार)। भाषा एक सामाजिक वस्तु है, स्थायी है, उसके कुछ नियम हैं। दूसरी तरफ भाषा सतत परिवर्तनशील है। व्यवहार करने वाला व्यक्ति उस भाषा को बदलता, सुधारता, सँवारता रहता है। इन दोनों तत्त्वों से मिलकर ही भाषा बनती है।

2.1 भाषिक व्यवस्था (लॉग)

पहले भाषिक व्यवस्था को समझते हैं। भाषा एक व्यवस्था है। इसके कुछ नियम हैं। इन नियमों के कारण जब एक व्यक्ति बोलता है तो दूसरा समझ लेता है, क्योंकि यह प्रतीकबद्ध सामाजिक व्यवस्था है। वह व्यक्ति से जुड़ी हुई होते हुए भी, व्यक्ति की अपनी सीमा से मुक्त होती है। यह भाषिक व्यवस्था मूल्यपरक व्यवस्था के रूप में काम करती है। भाषा के शुद्ध रूप में केवल मूल्य होते हैं, जो भाषिक प्रतीकों के भौतिक उपादान अथवा लक्षण द्वारा नियन्त्रित नहीं किए जा सकते।

इस बात को सस्यूर ने शतरंज के खेल द्वारा समझाने का प्रयास किया है। शतरंज के खेल में प्रयुक्त होने वाले मोहरे एक मूल्य के रूप में पहचाने जाते हैं। यह मूल्य खेल में उनके प्रकार्य को निश्चित करता है। प्यादा एक घर चलता है और दूसरे मोहरों को तिरछे मारता है। हाथी सीधे कई घर चलकर सीधे ही दूसरे मोहरे को मार सकता है। घोड़ा ढाई घर चलकर दूसरे मोहरों को मारकर चल सकता है। ये मोहरे अपने रूपाकार में छोटे-बड़े हो सकते हैं। वे अपने उपादान में प्लास्टिक, कागज, लकड़ी, धातु आदि किसी भी वस्तु के बने हुए हो सकते हैं। आवश्यकता केवल इस बात की होती है कि हम एक मोहरे, प्यादे को दूसरे मोहरों- हाथी, घोड़ा आदि से किसी भेदक लक्षण के आधार पर अलग कर सकें। सस्यूर का कहना है कि ये मोहरे अपने भौतिक उपादानों या बाह्य रंग के आधार पर खेल में भाग नहीं लेते, बल्कि उनको जो 'मूल्य' मिला हुआ है, इसके आधार पर वे खेल में चलते हैं। इस मूल्य व्यवस्था से शतरंज का खेल चलता है। यही कारण है कि अगर कोई मोहरा खो जाता है, तो हम किसी भी अन्य, अलग-सी दिखाई पड़ने वाली वस्तु को उसका मूल्य देकर चला लेते हैं। अर्थात् शतरंज का खेल मोहरों के भौतिक लक्षणों के आधार पर नहीं खेला जाता, बल्कि उस मूल्य के आधार पर खेला जाता है जो विभिन्न मोहरों को खेल के विधान द्वारा दिया हुआ है।

सस्यूर के अनुसार भाषा व्यवस्था की प्रकृति को भी शतरंज के खेल के सादृश्य से समझा जा सकता है, क्योंकि किसी भाषा की, किसी ध्वनि (क ख ग) अथवा उसके रंग(नीला, पीला आदि), नाम की सार्थकता, उसके भौतिक उपादानों में नहीं होती, वह तो उस मूल्य में होती है, जिसे भाषा की अपनी व्यवस्था या विधान उसे प्रदान करता है। यही लॉग है।

2.2 भाषिक व्यवहार (पैरोल)

अब भाषा व्यवहार की बात करते हैं। व्यक्ति जब इस भाषा का व्यवहार करता है, तो उसमें उसकी निजता आ जाती है। इससे वह भाषिक व्यवस्था के नियमों में थोड़ा हेर-फेर कर देता है। सामान्य से तथ्य कथन में कविता कर डालता है। आपका आना मुझे अच्छा लगा। यह कहने के लिए गालिब कहते हैं-

उनके देखे से, जो आ जाती है मुँह पर रौनक
वो समझते हैं कि बीमार का हाल अच्छा है।

या एक फिल्मी गीत है—
रे, कौन आया रोशन हो गई।
आप आए बहार आई।

यह पैरोल है।

पैरोल पर परिस्थितियों का, श्रोताओं की मनोवृत्ति का, वक्ता से उसके रिश्तों का दबाव रहता है। इसी वाक् व्यवहार से भाषा में नए-नए परिवर्तन और विकास होते रहते हैं।

2.3 परस्पर विलोम (बाइनरी अपोजिट)

भाषा के सन्दर्भ में अर्थ या मूल्य— स्वीकृत अर्थ को कहते हैं। मूल्य का निर्णय परस्पर विरोधी (परस्पर विलोम) सन्दर्भों से होता है। कोई क्या है? इसका पता इससे चलता है कि वह क्या नहीं है? असमान चीजों में 'मूल्य' से तुलना का काम होता है— उदाहरण के लिए रुपए से गेहूँ खरीदा जा सकता है, किताब खरीदी जा सकती है, शिक्षा खरीदी जा सकती है।

मूल्य पर बात करते समय इस पर भी ध्यान देना चाहिए कि भाषा की व्यवस्था बदलते ही अर्थ बदल जाता है। जहाँ संज्ञा आनी हो, वहाँ संज्ञा ही आनी चाहिए, अन्यथा अर्थ विपरीत हो सकता है।

अंग्रेजी में एक वाक्य का उदाहरण देते हुए संरचनावाद के व्याख्याकारों ने इस रूप में इसे स्पष्ट करने का प्रयास किया है—

The cat sat on the mat का वही अर्थ नहीं है, जो The mat sat on the cat का है।

हिन्दी के एक वाक्य को देख सकते हैं—

सोहन का पुत्र मोहन है का वही अर्थ नहीं है जो मोहन का पुत्र सोहन है का है।

इसलिए जो जहाँ है, उसे वहीं रहना चाहिए, भाषा की यह व्यवस्था यथास्थितिवाद का समर्थन करती है।

सस्यूर का मत है कि साहित्य भाषा से बनता है, भाव से नहीं बनता। साहित्य कैसे निर्मित होता है या कैसे प्रभाव डालता है, इसको जानने के लिए हमें यह जानना जरूरी है कि भाषा स्वयं कैसे बनती है। सस्यूर के अनुसार भाषा एक संकेत व्यवस्था है, जिससे अर्थ सम्भव होता है।

भाषा का आधार चीजों या प्रक्रियाओं को नाम देना है। उस 'नाम' से वह 'बात' जुड़ी हुई है। इसमें दो चीजें हैं— एक है 'अवधारणा' और दूसरा 'ध्वनि बिम्ब'। ध्वनि बिम्ब भौतिक बिम्ब नहीं है, बल्कि मनोवैज्ञानिक बिम्ब है;

क्योंकि कई बार अपने आपसे बोलने के लिए ध्वनि की जरूरत नहीं पड़ती।

भाषिक चिह्न अवधारणा और ध्वनि बिम्ब के मेल से बनता है। जैसे- 'पेड़' शब्द से पेड़ का बोध होता है। अलग-अलग भाषाओं में पेड़ के लिए अलग-अलग शब्द हैं। इससे जुड़ा हुआ लम्बा चौड़ा भाषा वैज्ञानिक तर्क-जाल है। इस तर्क जाल में उलझने के बजाए हम उसके निष्कर्षों पर पहुँचते हैं।

सस्यूर का मत है कि भाषा के बिना विचारों का अस्तित्व ही नहीं होता। भाषा से पहले विचार नहीं आता। (यह बहस का विषय है) इससे प्रमाणित होता है कि भाषा हमारे विचारों, भावों, चिन्तन और यथार्थ को एक आकार देती है, जिससे अर्थ उत्पन्न होता है। मसलन आप झूठ बोलते हैं। वह निर्भीक है, डरपोक है- ऐसी अनेक जटिल भाव संरचनाओं को व्यवस्था देने का काम 'भाषा' का है। यहाँ फिर याद रखें कि भाषा सम्पूर्ण भाषा के अर्थ में है, सिर्फ हिन्दी या अंग्रेजी के अर्थ में नहीं। संरचनावाद का अर्थ भवन-निर्माण के माध्यम से समझने का प्रयास करते हैं।

जब कभी मकान की बात हो हम उसमें कमरों की भी बात करते हैं। कमरा और मकान में फर्क है। मकान में एक विशेष 'काम' के लिए विशेष कमरा है- खाना बनाने का कमरा, नहाने का कमरा, या पूजा का कमरा, सोने का, बैठने का, पढ़ने का, मेहमानों का कमरा, नौकर का कमरा... हर कमरा आवश्यकता और कार्य के अनुरूप होता है। यदि किसी मकान में एक ही कमरा है, तो उसके अलग-अलग हिस्सों में अलग-अलग काम होते हैं।

ये अलग-अलग कमरे आपस में जुड़े हुए होते हैं। बरामदा, गैलेरी इन कमरों को आपस में जोड़ते हैं। इनसे हम एक से दूसरे कमरे में आ जा सकते हैं। कमरे से बाहर देखने के लिए खिड़कियाँ, दरवाजे और रोशनदान होते हैं। जब इनको बन्द कर देते हैं, कमरा बन्द हो जाता है, खोल देते हैं, तो बाहरी दुनिया से जुड़ जाते हैं। यह अन्तःसम्बन्ध कमरों को मकान बनाता है। इसी तरह कई मकान मिलकर गाँव, शहर, राज्य और देश बन जाते हैं।

यह अन्तःसम्बन्ध ही संरचना है। यदि हम रूपक की भाषा में बात करें, तो मकान की यह संरचना ही समाज की संरचना है। इसका मतलब यह कतई नहीं है कि समाज एक मकान होता है। संरचनावादी कहते हैं कि हरेक वस्तु एक 'संरचना' होती है। और यदि कोई 'संरचना' नहीं है, तो वह कोई 'काम' नहीं आ सकती। इस तरह संरचना और 'कर्म' एक दूसरे से जुड़े होते हैं। जब यह 'संरचना' टूटती है या बनती नहीं है, बिखरती है तो काम बन्द हो जाता है। गाड़ी रुक जाती है। जीवन गतिहीन हो जाता है। काम के लिए गति जरूरी है। इस कारण बन्द का असर सम्पूर्ण समाज पर पड़ता है। हड़ताल, धरना, प्रदर्शन- ये सभी संरचना को तोड़ने वाले अनुत्पादक तत्त्व हैं। हम कह सकते हैं कि 'संरचनावाद' यथास्थितिवाद का समर्थन करता है।

इस तरह संरचना का अर्थ है विभिन्न अवयवों में आपसी तालमेल। इसे लेवी स्त्रास ने मिथक और रक्त सम्बन्धों की व्यवस्था का विश्लेषण करते हुए स्पष्ट किया। अलग-अलग हिस्से कुछ निश्चित, नियमों से एक दूसरे से जुड़े हुए

रहते हैं- उससे एक नया सम्बन्ध बनता है, जैसे भाषा के अवयव व्याकरण के नियमों से बँधे रहते हैं। उसी तरह समाज भी सुसम्बद्ध होता है। उदाहरण के लिए संगीत के एक अंश को लिया जा सकता है। संगीत के एक हिस्से को लिखा जा सकता है। पियानो पर बजाया जा सकता है। रिकार्ड किया जा सकता है। रेडियो या दूरदर्शन पर उसे प्रसारित किया जा सकता है। इस तरह संगीत के उस हिस्से का रूपांतरण हो सकता है। वह लिखित नोट्स में, ऊँगलियों के संचालन में, ध्वनि तरंगों या रेडियो तरंगों में बदल सकता है। यह सतही यथार्थ है। परन्तु इन सबमें एक चीज 'सामान्य' है। वह संगीत है। यही संरचना है। यह सतही यथार्थ नहीं है। यह अन्तर्निहित यथार्थ है। यदि संगीत के उस अंश की 'संरचना' में कोई दोष है तो उसे न तो गाया जा सकता है और न बजाया जा सकता है।

संरचनावाद के दो तत्त्व हुए-इकाइयाँ (जिन्हें वे सतही यथार्थ कहते हैं) और नियम (जिनसे ये इकाइयाँ एक दूसरे से जुड़ती हैं)। पहले इकाइयों की व्यवस्था बनती है, फिर वे अन्तर्निहित नियम होते हैं, जिनसे ये इकाइयाँ संचालित होती हैं। उदाहरण के लिए, भाषा में इकाई अक्षर होते हैं, उनसे शब्द बनते हैं, फिर व्याकरण के रूप में जो शब्दों को क्रम देते हैं। अलग-अलग भाषाओं की व्यवस्था अलग-अलग होती है। शब्द अलग होते हैं, परन्तु सभी भाषाओं की संरचना 'एक' होती है जो व्याकरणिक व्यवस्था को अर्थ देती है। उदाहरण के लिए हम अलग-अलग संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया, विशेषण, विराम चिह्नों को पढ़ते हैं। यदि उनको बिना किसी व्यवस्था के पढ़ें, तो उनका या तो कोई अर्थ नहीं बनता, या गलत बनता है या क्षीण-सा अर्थ निकलता है। परन्तु जब संज्ञा, क्रिया, विशेषण आदि अपने-अपने स्थान पर चले जाते हैं तब पूरा 'अर्थ' व्यक्त होता है। अब कोई चाहे तो एक संज्ञा के स्थान पर दूसरी, या एक विशेषण के स्थान पर कोई दूसरा विशेषण इस्तेमाल कर सकता है, यह 'पैरोल' है। परन्तु इससे भाषा की व्याकरणिक संरचना में कोई परिवर्तन नहीं होता है। अर्थात् शब्द इस व्याकरणिक व्यवस्था में आते हैं तब 'काम' करते हैं।

3. साहित्यिक संरचना

इस अवधारणा के लिए संरचनावादी दूर का उदाहरण देते हैं। जैसे एक शब्द है 'सिण्डूला'। इससे आपके मन में एक अर्थ पैदा होता है। इसकी कथा हम सब जानते हैं। संरचनावादी कहते हैं कि सिण्डूला की कहानी की मूल संरचना वही है जो 'खो-व्हाइट' की या अन्य परिकथाओं की है। इसमें एक राजकुमारी होती है। विमाता उसे तंग करती है। फिर राजकुमार आकर उसे बचाता है या उससे विवाह करता है। इस कहानी में इकाई चरित्र है और नियम यह है कि विमाता खराब होती है। राजकुमारी उसकी शिकार होती है। राजकुमार और राजकुमारी का विवाह होता है। अब इसमें आप कुछ छोटी-मोटी बातें और जोड़ लें या घटा लें। कहानी की मूल 'संरचना' वही बनी रहती है।

हिन्दी में मुक्तिबोध ने 'कामायनी : एक पुनर्विचार' शीर्षक पुस्तक लिखी। बड़ा ही मार्मिक-मौलिक मार्क्सवादी विश्लेषण किया। इसमें एक जगह उन्होंने कामायनी की संरचनावादी व्याख्या कर डाली। उन्होंने लिखा कि मान लीजिए मनु का नाम मनु कुमार है। फिर इडा और श्रद्धा की जगह दो आधुनिक नाम वाली नायिकाओं का नाम

लिख लें और कहानी को आगे बढ़ाएँ तो पूरी *कामायनी* की संरचना एक मध्यवर्गीय शिक्षित व्यक्ति की प्रेम कहानी बन जाएगी। श्रद्धा वह, जो स्वयं मनु पर मरती है। इडा को मनु कौशलपूर्वक हथियाता है। एक आधुनिका है, दूसरी परम्परानुगामी। मनु दोनों से प्रेम करता है। प्रसन्न रहता है और अन्त में कष्ट उठाता है, क्योंकि भारतीय संरचना में एक ही स्त्री से प्रेम करना चाहिए। इस तरह संरचनावादी जब किसी कहानी या फिल्म की आलोचना करता है तो वह उसकी मूलभूत संरचनाओं को तलाश करता है।

जैसे- प्रेम कहानी में

एक लड़का होता है।
एक लड़की होती है।
कभी दोनों हँसते हैं।
कभी दोनों रोते हैं।

यह हिन्दी बाजारू फिल्मों की संरचनावादी व्याख्या हो सकती है-

लड़का	प्रेमिका लड़की
लड़के के माता पिता	लड़की के माता पिता
एक समर्थन में	दूसरा विरोध में
कभी दोनों विरोध करते हैं।	

यदि दोनों समर्थन कर दें तो फिल्म आगे नहीं बढ़ पाती। विवाह हो जाता है और कहानी-फिल्म खत्म।

अब संरचना आगे बढ़ती है।

लड़की/लड़के के माता पिता जबर्दस्ती विवाह कर देते हैं। वह पत्नी से प्रेम नहीं कर पाता। फिर लड़का या लड़की भाग जाते हैं। पकड़े जाते हैं या आत्महत्या कर लेते हैं। या सुहाग रात में लड़का-लड़की अपने पति या पत्नी को सब बता देते हैं। तब दोनों फिर अपने-अपने प्रेमियों के पास पहुँच जाते हैं। यह संरचनाओं के भीतर का यथार्थ है। अब आप नायक के रूप में, चाहे जिसका चेहरा रख लें, गीत-संगीत किसी का बजा लें, फिल्म की संरचना वही रहेगी।

इस तरह सभी रचनाओं के भीतर 'संरचना' होती है पैटर्न होता है। उन्हें ढूँढा जा सकता है।

'छायावाद' में भी प्रथम दृष्टि से उत्पन्न प्रेम है। कालिदास में भी '*अभिज्ञान शाकुन्तलम्*' में दुष्यन्त पहली बार शकुन्तला को देखता है, मुग्ध हो जाता है और सोचता है कि यह ब्राह्मण कन्या, मैं क्षत्रिय राजकुमार- यह प्रेम कहीं पाप तो नहीं। रामायण में सीता राम को देखती है, और उन्हीं की परिणीता बनना चाहती है।

सब जगह तर्कातीत भाव से विवाह हो जाता है। जब संरचना बिगड़ती है, तब क्या होता है? शूपर्णखा के नाक-कान काट लिए जाते हैं। वह भी तो प्रेम निवेदन करने ही गई थी। भीष्म पितामह विवाह से इनकार करते हैं, तो उन्हें छह महीने तक तीरों की शैय्या पर सोना पड़ता है।

इस तरह प्रेम के बदले प्रेम
या
प्रेम न करने की सजा हत्या
सभी प्रेम कहानियों की यही संरचना है। अब इसका नियम क्या है?
प्रेम अच्छी चीज है, करना चाहिए।
संघर्ष प्रेम की परीक्षा है

प्रेम का विरोध खलनायक करता है। खलनायक कोई भी हो सकता है। 'एक दूजे के लिए' वाला प्रेम आदर्श है। यह संरचना रामायण, महाभारत, कालिदास, सूर, रवीन्द्रनाथ, जयशंकर प्रसाद और सामान्य बम्बइया फिल्मों में समान रूप से पाई जाती है।

4. इकाई और नियम

अब प्रश्न यह उठता है कि इकाई और नियम को सार्थक व्यवस्था देने का काम करता कौन है? संरचनावादियों के अनुसार यह व्यवस्था मानव मस्तिष्क करता है। मस्तिष्क स्वयं एक संरचनात्मक व्यवस्था है, जो इकाई को नियमों के अनुसार रखता है। जिसका तात्पर्य यह है कि बाहरी दुनिया में हम जो व्यवस्था देखते हैं वह बाहरी दुनिया में नहीं होती, बल्कि हमारे भीतर होती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि बाहरी दुनिया में कोई 'यथार्थ' है ही नहीं। ऐसा नहीं है। बाहरी दुनिया में कुछ ज्यादा ही यथार्थ है। बाहर कई तरह की इकाइयाँ हैं। हम एक साथ उन्हें देखते हैं, परन्तु समझने के लिए हमारा मानस ही उनमें व्यवस्था प्रदान करता है।

इस तरह संरचनावाद दरअसल मानव जाति का विज्ञान है और वह उन सब संरचनाओं को उद्घाटित करता है जो मनुष्य सोच, समझ या महसूस कर सकता है। वह संरचना चाहे गणित में हो, या जीव विज्ञान में, भाषा विज्ञान या धर्म, मनोविज्ञान या साहित्य में, कहीं भी हो।

इस क्रम में संरचनावादी मानते हैं कि ये संरचनाएँ शाश्वत होती हैं। प्रत्येक संस्कृति में, प्रत्येक काल खण्ड में मानव मस्तिष्क उन्हें संघटित करता है। उदाहरण के लिए सभी मानव समाज के पास भाषा होती है, जिसके मूल में संरचना होती है। यहाँ शब्द या इकाई व्याकरण के नियमों से अर्थ प्रदान करते हैं। इसी तरह के कुछ नियम रक्त सम्बन्धों में होते हैं, जिनसे यह तय होता है कि व्यक्ति किससे विवाह कर सकता है, किससे नहीं।

या कुछ नियम बने होते हैं जिसमें मनुष्य चीजों का आदान-प्रदान करता है, इन सारे नियमों में अन्तर्निहित एकता होती है। बाह्य यथार्थ में थोड़ा बहुत हेरफेर हो सकता है। तो अन्ततः संरचना क्या है?

कोई भी वैचारिक अवधारणात्मक व्यवस्था संरचना होती है, जिसमें निम्नलिखित तीन विशेषताएँ होती हैं—

1. **सम्पूर्णता** : व्यवस्था सम्पूर्णता में कार्य करती है। कोई एक हिस्सा कार्य नहीं करता। पूर्णता के बिना कोई भी संरचना सक्रिय नहीं होती।

2. **रूपान्तरण** : व्यवस्था जड़ नहीं, परिवर्तनशील होती है। सम्पूर्ण संरचना में भी कोई नई इकाई जुड़ सकती है; परन्तु ऐसा होने के लिए उसे व्यवस्था के नियमों के अन्तर्गत आना होता है। बैलगाड़ी के पहिए, जो कभी लकड़ी के हुआ करते थे, वे बाद में रबड़ के बन गए, हवाई जहाज तक के पहिए बदलते रहे।
3. **स्वनियन्त्रण** : आप व्यवस्था में नए तत्त्व जोड़ तो सकते हैं, मूलभूत 'संरचना' नहीं बदल सकते। व्यवस्था में बदलाव व्यवस्था के नियमों से बाहर नहीं होता। आप वंशानुगत राजा के स्थान पर चुना हुआ प्रधानमंत्री ला सकते हैं, पर सत्ता रहित समाज की परिकल्पना सम्भव नहीं। चैक की जगह एटीएम कार्ड हो सकता है।

अब हम इस शास्त्रीय, अवधारणात्मक चर्चा से निकलकर इस मान्यता के साहित्यिक प्रतिफलन पर बात करते हैं। इसका सार तत्त्व यह है कि पाठ की वैयक्तिकता समाप्त हो जाती है और पैटर्न, व्यवस्था और संरचना पर नजर टिक जाती है। इस प्रक्रिया में 'लेखक' का लोप हो जाता है। उसे दरकिनार करके ही चर्चा की जाती है। संरचनावाद, रूमानी-मानवतावादी पश्चिमी परम्परा की इस धारणा के खिलाफ है कि पाठ का जनक लेखक है। पाठ का आरम्भ लेखक से होता है। संरचनावादी तर्क देते हैं कि किसी पाठ का उदय या रचना नहीं होती। लेखक तो पहले से उपलब्ध संरचनाओं का एक विशेष क्रम में कहानी ढालता है। यह तो पैरोल मात्र है। फिर दूसरी बात यह भी कि 'हम भाषा बोलते हैं' के स्थान पर 'भाषा हम में बोलती है'। हम भाषा का निर्माण नहीं करते, बल्कि उसे अंगीकार करके एक संरचना प्रदान करते हैं, ताकि हम 'बोल' सकें। इस तरह प्रत्येक 'पाठ' प्रत्येक वाक्य जो हम बोलते हैं, या लिखते हैं, वह सब पहले से ही लिखा हुआ है—

इस तरह संरचनावादी 'इतिहास' को नकारते हैं। लेवी स्त्रास मानते हैं कि संरचनाएँ शाश्वत होती हैं, कालविहीन होती हैं।

यदि हम मानवतावादी मॉडल की बात करें जिससे आज का भारतीय पाठक भी सहमत है। वह इस प्रकार है—

1. हमसे बाहर एक वास्तविक दुनिया है जिसे हम तार्किक मस्तिष्क से समझ सकते हैं।
2. भाषा में यह सामर्थ्य है कि वह इस वास्तविक दुनिया का कमोबेश चित्रण कर सकती है।
3. भाषा लेखक की व्यक्तिगत वस्तु होती है, अर्थात् जो हम तय करते हैं उसे वह व्यक्त करती है। जो हम कहते हैं उसका अर्थ हमें पता होता है।
4. भाषा में जिसे 'मैं' कहकर पुकारा जाता है, वह लेखक के मैं 'सत्य और अर्थ' का केन्द्र होता है। सत्य वह है, जिसे 'मैंने' ऐसा समझा है। मैं अपना वाक्य स्वयं सृजित करता हूँ। मेरा व्यक्तिगत अनुभव को व्यक्त करने के लिए निजी अभिव्यक्ति होती है।

संरचनावादी इस मॉडल को नहीं मानते। उनके मत का सार इस प्रकार है—

1. भाषा की संरचना 'यथार्थ' को निर्मित करती है। हम सिर्फ और सिर्फ भाषा के माध्यम से सोच पाते हैं, इसलिए हमारा सारा बोध भाषा की संरचना से निश्चित और नियमित होता है।
2. भाषा हम में बोलती है अर्थात् अर्थ का उद्गम व्यक्तिगत अस्तित्व या अनुभव से नहीं होता। अर्थ व्याकरण, चिह्न, पैटर्न, जो भाषा को निश्चित करते हैं, उनसे आता है। अर्थ व्यवस्था से आता है, जहाँ कोई व्यक्ति उस व्यवस्था के भीतर व्यक्त कर पाता है।
3. अर्थ के केन्द्र में व्यक्ति (लेखक) नहीं होता, बल्कि वह संरचना को उसके केन्द्र में रखता है— संरचना से अर्थ पैदा होता है। 'मैं कहता हूँ' का तात्पर्य यही है कि मैं भाषिक व्यवस्था को अंगीकार करता हूँ— यह भाषिक उत्पाद है।

संरचनावाद की इन मूलभूत मान्यताओं का विरोध हुआ। यह विरोध मार्क्सवादियों, अस्तित्ववादियों और अन्य मानवतावादी चिन्तकों-विचारकों और आलोचकों ने किया। फिर सन् 60 के बाद संरचनावादी चिन्तन का भी विकास हुआ और इसी संरचनावाद के भीतर से उत्तर संरचनावाद पैदा हुआ। रोलाबार्थ, मिशेल फूको और जाक देरिदा इस उत्तर संरचनावाद के प्रमुख पैरोकार माने जाते हैं।

5. निष्कर्ष

इस तरह हम कह सकते हैं कि संरचनावाद शुद्ध साहित्य सिद्धान्त नहीं है। यह व्यापक सिद्धान्त है जो अन्य अनुशासनों के साथ-साथ साहित्य पर भी लागू हो सकता है। आलोचकों और विचारकों ने साहित्य की संरचनावादी व्याख्या की है। इससे साहित्य को भी नए ढंग से पढ़ने-समझने की दृष्टि मिलती है।